पड़िए गर बीमार[1]

मुश्ताक़ अहमद यूसुफ़ी

तो कोई न हो तीमारदार? जी नहीं! भला कोई तीमारदार न हो तो बीमार पड़ने से फ़ायदा? और अगर मर जाइए तो नौहा-ख़्वाँ कोई न हो। तौबा कीजिए! मरने का यह रूखा-फीका दक़ियानूसी अंदाज़ मुझे कभी पसंद न आया। हो सकता है 'ग़ालिब' के तरफ़दार यह कहें कि पश्चिम को सिर्फ़ जीने का तरीक़ा आता है मरने का सलीक़ा नहीं आता। और सच पूछिए तो मरने का सलीक़ा कुछ पूरब ही का हिस्सा है। इसी आधार पर ग़ालिब की नफ़ासत-पसंद तबीयत ने 1277 हिजरी की महामारी में मरना अपने क़ाबिल न समझा क्योंकि यह उनकी शान के ख़िलाफ़ था। हालाँकि अपनी भविष्यवाणी को सही साबित करने के लिए वे उसी साल मरने के इच्छुक थे।

इसमें शक नहीं कि हमारे यहाँ सम्मानपूर्वक मरना एक हादसा नहीं हुनर है जिसके लिए उम्र भर तपस्या करनी पड़ती है। और *अल्लाह अगर तौफ़ीक़ न दे तो यह हर एक के बस का रोग भी नहीं*[II]। विशेष रूप से पेशेवर सियासतदान इसके कलात्मक स्वाद से परिचित नहीं होते। बहुत कम लीडर ऐसे हुए हैं जिन्हें सही समय पर मरने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। मेरा विचार है कि हर लीडर के जीवन में, चाहे वह कितना ही गया-गुज़रा क्यों न हो, एक समय ज़रूर आता है जब वह थोड़ा जी कड़ा करके मर जाए या अपने सियासी दुश्मनों को रिश्वत देकर अपने आपको शहीद कराले तो वे लोग साल-के-साल न सही हर इलेक्शन पर ज़रूर धूम-धाम से उसका उर्स मनाया करेंगे। अलबत्ता कठिनाई यह है कि इस तरह का सौभाग्य दूसरे के बाहुबल पर निर्भर है और शेख़ 'सादी' कह गए हैं कि दूसरे के बलबूते पर स्वर्ग में जाना नरक की सज़ा के बराबर है। फिर इसका क्या इलाज कि मनुष्य को मौत हमेशा समय से पहले और शादी हमेशा समय के बाद मालूम होती है।

बात कहाँ से कहाँ जा पहुँची। वर्ना इस समय मुझे उन सौभाग्यशाली युवा-मृतकों से सरोकार नहीं जो जीने के ढंग और मरने के स्वाद से परिचित हैं। मेरा सरोकार तो उस पीड़ित बहुसंख्या से है जिसको बक़ौल शायर

जीने की अदा याद है, न मरने की अदा याद[III]

---

[1] पड़िए गर बीमार तो कोई न हो तीमारदार // और अगर मर जाइए तो नौहा-ख़्वाँ कोई न हो (मिर्ज़ा ग़ालिब)
तीमारदार: मरीज़ की सेवा करने और उस का हाल पूछने वाला; मरीज़ से हमदर्दी करने वाला;
नौहा-ख़्वाँ: रोने या मातम करने वाला; मुर्दे की बातें बयान करके रोने और रुलाने वाला। (अनु.)

[II] अल्लाह अगर तौफ़ीक़ न दे इंसान के बस का काम नहीं// फ़ैज़ान-ए-मुहब्बत आम सही, इरफ़ान-ए-मुहब्बत आम नहीं (जिगर मुरादाबादी) ; फ़ैज़ान-ए-मुहब्बत: मुहब्बत का वरदान; इरफ़ान-ए-मुहब्बत: मुहब्बत की सही पहचान। (अनु.)

[III] क्या जानिए क्या हो गया अरबाब-ए-जुनूँ को // मरने की अदा याद न जीने की अदा याद ('जिगर' मुरादाबादी)

अतः इस समय मैं उस मूक वर्ग का प्रतिनिधित्व करना चाहता हूँ जो उस बीच की हालत से गुज़र रहा है जो मृत्यु और जीवन दोनों से अधिक कष्टप्रद और चुनौतीपूर्ण है ---- यानी बीमारी! मेरा संकेत उस वर्ग की ओर है जिसे *सब कुछ अल्लाह ने दे रखा है सेहत के सिवा*[i]।

मैं उस शारीरिक कष्ट से हरगिज़ नहीं घबराता जो बीमारी का अनिवार्य अंश है। स्प्रीन की केवल एक गोली या मार्फ़िया का एक इंजेक्शन उससे मुक्ति दिलाने के लिए पर्याप्त है। लेकिन उस रूहानी तकलीफ़ का कोई इलाज नहीं जो अयादत[ii] करने वालों से लगातार पहुँचती रहती है। एक चिररोगी की हैसियत से जो इस लाइलाज दर्द के स्वाद से परिचित है, मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि मार्फ़िया के इंजेक्शन मरीज़ के बजाय मिज़ाज-पुरसी करने वालों के लगाए जाएँ तो मरीज़ को बहुत जल्द सुकून आ जाए।

उर्दू शायरों के बयान पर विश्वास किया जाए तो पिछले ज़माने में बीमारी का कारण मुलाक़ात के बहाने के सिवा कुछ न था। माशूक़ हाल पूछने के बहाने दूसरे के घर जाती थी और हर समझदार आदमी इसी आशा में बीमार पड़ता था कि शायद कोई भूला-भटका हाल पूछने आ निकले।

अलालत बे अयादत जल्वा पैदा कर नहीं सकती[iii]

उस ज़माने के अयादत के अंदाज़ में कोई तसल्ली हो तो हो, मैं तो उन लोगों में से हूँ जो केवल अयादत के भय से स्वस्थ रहना चाहते हैं। एक संवेदनशील चिररोगी के लिए "मिज़ाज अच्छा है?" एक औपचारिक जुमला नहीं बल्कि व्यक्तिगत हमला है जो हर बार उसे हीन-भावना से ग्रस्त कर देता है। मैं तो आए दिन की मिज़ाज-पुरसी से इस क़दर बेज़ार हो चुका हूँ कि दोस्तों को आगाह कर दिया है कि जब तक मैं ख़ुद लिखकर, अपने दस्तख़त के साथ, यह सूचना न दूँ कि आज अच्छा हूँ, मुझे हस्बेमामूल बीमार ही समझें और मिज़ाज-पुरसी करके शर्मिन्दा होने का अवसर प्रदान न करें।

सुना है कि शालीन आदमी की यह पहचान है कि अगर आप उससे कहें कि मुझे फ़लाँ बीमारी है तो वह कोई आज़माया हुआ नुस्ख़ा न बताए। शालीनता की यह कड़ी कसौटी सही स्वीकार कर ली जाए तो हमारे देश में सिवाय डॉक्टरों के कोई मनुष्य शालीन कहलाने का हक़दार न निकले। विश्वास न हो तो झूठ-मूठ किसी से कह दीजिए कि मुझे ज़ुकाम हो गया है। फिर देखिए, कैसे-कैसे रामबाण नुस्ख़े, ख़ानदानी चुटकले और फ़क़ीरी टोटके आपको बताए जाते हैं। मैं आज तक यह निर्णय न कर सका कि इसकी असल वजह चिकित्सकीय ज्ञान की अधिकता है या सुरुचि का अभाव। बहरहाल बीमार को मशवरा देना हर स्वस्थ आदमी

---

[i] ख़ुशनसीब आज भला कौन है गौहर के सिवा // सब कुछ अल्लाह ने दे रखा है शौहर के सिवा (अकबर इलाहाबादी)

[ii] अयादतः बीमार के पास जाकर उसकी की तबियात के बारे में पूछना ; मिज़ाज पुरसी (अनु.)

[iii] अलालतः बीमारी; बे अयादत : मिज़ाज पुरसी के बिना ; जल्वा पैदा करनाः आभा दिखाना; यह ग़ालिब के निम्नलिखित शेर की पैरोडी हैः *लताफ़त बे कसाफ़त जल्वा पैदा कर नहीं सकती // चमन ज़ंगार है आईना-ए-बाद-ए-बहारी का*
निर्मलता (लताफ़त) मलिनता (कसाफ़त) के बिना अपनी आभा नहीं दिखाती। चमन, वसंती पवन के दर्पण का, ज़ंगार (मोर्चा) है। अर्थात दर्पण में सफ़ाई या चमक उसके पीछे लगे ज़ंगार के बिना नहीं आ सकती। वसंती-पवन एक दर्पण है और चमन उसका ज़ंगार (मोर्चा) है।(अनु.)

अपना सुखद दायित्व समझता है और न्याय की बात यह है हमारे यहाँ निन्यानवे प्रतिशत लोग एक-दूसरे को मशवरे के अलावा और दे भी क्या सकते हैं।

कभी-कभी मित्रगण इस बात से बहुत ख़फ़ा होते हैं कि मैं उनके मशवरों पर अमल नहीं करता। हालाँकि उन पर अमल न करने का एकमात्र कारण यह है कि मैं नहीं चाहता कि मेरा खून किसी प्रिय मित्र की गर्दन पर हो। इस समय मेरी मंशा सलाह-मशवरे के नुक़सान गिनवाना नहीं (इसलिए कि मैं मानसिक स्वास्थ्य के लिए यह आवश्यक समझता हूँ कि आदमी को पाबंदी से सही भोजन और ग़लत मशवरा मिलता रहे। इसी से मानसिक संतुलन क़ायम रहता है) न यहाँ नातेदारों के अत्याचारों की शिकायत करना प्रयोजन है। उद्देश्य केवल अपने उन शुभचिंतकों का परिचय कराना है जो मेरे चिरकालिक रोगों के कार्य-कारण सम्बन्ध पर विचार करते और अपने मशवरे से समय-समय पर मुझे लाभान्वित करते रहते हैं। अगर इस समूह में आपको कुछ जानी-पहचानी सूरतें नज़र आएँ तो मेरी बदहाली पर तरस जताने की कोशिश न कीजिये, आप खुद हमदर्दी के पात्र हैं।

इस फ़ेहरिस्त में सबसे ऊपर उन मिज़ाज-पुरसी करने वालों के नाम हैं जो रोग का निदान करते हैं न दवा बताते हैं। मगर इसका यह मतलब नहीं कि वे विनम्र-स्वभाव वाले लोग हैं। दरसल उनका सम्बन्ध उस विचारधारा से है जिसके नज़दीक परहेज़ इलाज से बेहतर है। ये इस उदर-उत्पीड़क धारणा के प्रतिपालक व प्रचारक हैं कि खाना जितना फीका-सीठा होगा, स्वास्थ्य के लिए उतना ही लाभदायक होगा। यहाँ यह बताना बेमौक़ा न होगा कि हमारे देश में दवाओं की विशेषताएँ मालूम करने की भी यही कसौटी है। जिस तरह कुछ भोले-भाले लोगों का अभी तक यह मानना है कि हर कुरूप स्त्री चरित्रवान होती है, उसी तरह प्राचीन चिकित्सा प्रणाली में हर कड़वी चीज़ को रक्त-शोधक माना जाता है। अतः हमारे यहाँ अंग्रेज़ी खाने और कड़वे काढ़े इसी उम्मीद में पिए जाते हैं।

इस समूह के स्वास्थ्य-सेवक दो वर्गों में बंट जाते हैं। एक वे भोजन-उपासक जो खाने से इलाज करते हैं। दूसरे वे जो इलाज और खाने दोनों से परहेज़ बताते हैं। पिछली गरमियों की घटना है कि मेरी बाईं आँख में गुहेरी निकली तो एक नीम-जान जो खुद को पूरा हकीम[1] समझते हैं, छूटते ही बोलेः "आमाशय के मुँह पर सूजन मालूम होती है। दोनों वक़्त मूँग की दाल खाइए। वात-नाशक व शोथ-निवारक है।"

मैंने पूछा "आख़िर आपको मेरे अस्तित्व से कौन सा कष्ट पहुँचा जो यह सलाह दे रहे हैं?"

फ़रमाया "क्या मतलब?"

निवेदन किया "दो चार दिन मूँग की दाल खा लेता हूँ तो उर्दू शायरी समझ में नहीं आती और तबियत बेतहाशा तिजारत की ओर उन्मुख होती है। इस सूरत में खुदा-न-ख़्वास्ता तंदुरुस्त हो भी गया तो जी के क्या करूँगा?

बोले आप " तिजारत को इतना तुच्छ क्यों समझते हैं? अंग्रेज़ हिन्दुस्तान में दाख़िल हुआ तो उसके एक हाथ में तलवार और दूसरे में तराज़ू थी।"

---

[1] नीम-हकीम ख़तरा-ए-जान की पैरोडी अर्थात आधा हकीम जान के लिए ख़तरा है। (अनु.)

अर्ज़ किया "और जब वह गया तो एक हाथ में यूनियन जैक था और दूसरी आस्तीन ख़ाली लटक रही थी!"

बात उन्हें बहुत बुरी लगी, इसलिए मुझे यक़ीन हो गया कि सच थी। इसके बाद सम्बन्ध इतने तनावपूर्ण हो गए कि हमने एक दूसरे के चुटकलों पर हँसना छोड़ दिया। रूपकों व संकेतों द्वारा बात बरतरफ़, मेरी अपनी धारणा तो यह है कि जब तक आदमी को विशिष्ट भोजन मिलता रहे उसे भोजन की विशिष्टता के बखेड़े में पड़ने की बिल्कुल आवश्यकता नहीं। सच पूछिए तो उत्तम भोजन के बाद कम-से-कम मुझे तो बड़ी उत्फुल्लता महसूस होती है और बेइख़्तियार जी चाहता है कि बढ़कर हर राहगीर को सीने से लगा लूँ।

दूसरा वर्ग संकल्प-शक्ति से दवा और भोजन का कम लेना चाहता है और शारीरिक व्याधियों के इलाज-उपचार से पहले दिमाग़ का सुधार करना ज़रूरी समझता है। ये सज्जन मर्ज़ की शुरुआत ही से दवा के बजाय दुआ में यक़ीन रखते हैं और इनमें भारी बहुमत उन सत्तरे-बहत्तरे बुज़ुर्गों का है जो घिघिया-घिघियाकर अपनी लम्बी उम्र की दुआ माँगते हैं और इसी को असली उपासना समझते हैं। इस आध्यात्मिक भोजन के लिए मैं फ़िलहाल अपने आपको तैयार नहीं पाता। मुझे इस पर बिल्कुल ताज्जुब नहीं होता कि हमारे देश में पढ़े-लिखे लोग ख़ूनी पेचिश का इलाज गंडे-तावीज़ों से करते हैं। ग़ुस्सा इस बात पर आता है कि वे वाक़ई अच्छे हो जाते हैं।

कुछ ऐसे अयादत करने वाले भी हैं जिनके हाल पूछने के अंदाज़ से प्रकट होता है कि बीमारी एक संगीन जुर्म है और वे किसी दैवीय निर्देश के अनुसार इसकी तफ़्तीश के लिए नियुक्त किए गए हैं। पिछले साल जब इन्फ़्लुएन्ज़ा की महामारी फैली और मैं भी शैयाग्रस्त हो गया तो एक पड़ोसी जो कभी फटकते भी न थे, रोगी-कक्ष में साक्षात पधारे और ख़ूब कुरेद-कुरेदकर जिरह करते रहे। आख़िरकार अपना मुँह मेरे कान के क़रीब लाकर राज़दाराना अंदाज़ में कुछ ऐसे निजी प्रश्न पूछे जिनके पूछने का अधिकार मेरी नाचीज़ राय में बीवी और मुनकिर-नकीर[1] के अलावा किसी को नहीं है।

एक सज्जन हैं जिनसे सिर्फ़ बीमारी के दौरान में मुलाक़ात होती है। इसलिए अक्सर होती रहती है। महोदय आते ही बरस पड़ते हैं और गरजते हुए विदा होते हैं। पिछले हफ़्ते का ज़िक्र है। हलहलाकर बुख़ार चढ़ रहा था कि वे आ धमके। कंपकंपाकर कहने लगे:

"बीमारी-आज़ारी में भी ग़ैरियत बरतते हो, बरख़ुरदार! दो घंटे से मलेरिया में चुपचाप पड़े हो और मुझे ख़बर तक नहीं की।"

बहुतेरा जी चाहा कि इस दफ़ा पूछ ही लूँ कि "क़िबला[II] कुनैन! अगर आपको सही समय पर सूचित करा देता तो आप मेरे मलेरिया का क्या बिगाड़ लेते?"

---

[1] मुनकिर-नकीर: दो भयानक फ़रिश्तों के नाम हैं जो क़ब्र में मुर्दों से सवाल पूछते हैं और संतोषजनक जवाब न मिलने पर मुर्दे को भयानक सज़ा देते हैं।

[II] क़िबला: पूज्य व श्रद्धेय व्यक्ति; आदर सूचक संबोधन भी है , मसलन माननीय; हुज़ूर (अनु.)

उनकी ज़बान उस क़ैंची की तरह चलती है जो चलती ज़्यादा है और काटती कम। डाँटने का अंदाज़ ऐसा है जैसे कोई घामड़ लड़का ज़ोर-ज़ोर से पहाड़े याद कर रहा हो। मुझे उनकी डाँट पर बिल्कुल ग़ुस्सा नहीं आता। क्योंकि अब उसका विषय मुँहज़बानी याद हो गया है। यूँ भी इस नमूने के बुज़ुर्गों की नसीहत में से डाँट और दाढ़ी को अलग कर दिया जाए या अमन भंग करने की सूरत में, डाँट में से डंक निकाल दिया जाए तो बाक़ी बात (अगर कोई चीज़ बाक़ी रहती है) बेहद बेहूदा मालूम होगी।

उनका आना मौत के फ़रिश्ते का आना है। मगर मुझे यक़ीन है कि हज़रत इज़राईल अलैहिस्सलाम[I] रूह क़ब्ज़ करते वक़्त इतनी डाँट-डपट नहीं करते होंगे। ज़ुकाम उन्हें निमोनिया का अग्रदूत दिखाई देता है और ख़सरा में टाइफ़ाइड के लक्षण नज़र आते हैं। उनकी आदत है कि जहाँ सिर्फ़ सीटी से काम चल सकता है, वहाँ बेधड़क बिगुल बजा देते हैं। सारांश यह कि एक ही साँस में 'खुदा-न-ख़्वास्ता' से 'इन्नल-लिल्लाह'[II] तक की तमाम मंज़िलें तय कर लेते हैं। उनकी कवितामय डाँट की भूमिका कुछ इस तरह की होती है:

"मिया! यह भी कोई अंदाज़ है कि ख़ानदानी रईसों की तरह
नब्ज़ पे हाथ धरे मुन्तज़िर-ए-फ़र्दा हो[III]
बेकारी बीमारी का घर है। शायर ने क्या ख़ूब कहा है:
बीमार मबाश कुछ किया कर[IV]।"
मिसरे (पंक्ति) का जवाब शेर से देता हूँ:
कमज़ोर मेरी सेहत भी है, कमज़ोर है मेरी बीमारी भी
अच्छा जो हुआ कुछ कर न सका, बीमार हुआ तो मर न सका

यह सुनकर वे बिफर जाते हैं और अपनी उम्र और बुज़ुर्गी की आड़ लेकर गंगा-जमुना में धुली हुई परिष्कृत भाषा में ऐसे अश्लील अपशब्द कहते हैं कि ज़िन्दा तो दरकिनार, मुर्दा भी एक दफ़ा कफ़न फाड़कर सवाल व जवाब के लिए उठ बैठे। भाषण का लुब्बे-लुबाब यह होता है कि प्रस्तुत लेखक जानबूझकर अपने

[I] हज़रत इज़राईल अलैहिस्सलाम: मलकुलमौत अर्थात मौत के फ़रिश्ते कान नाम। (अनु.)

[II] खुदा-न-ख़्वास्ता: किसी संभावी ख़तरे या बुरी घटना के ज़िक्र से पहले बोलते हैं;
इन्नल-लिल्लाह (व इन्ना इलैहे राजिऊन): किसी की मौत की ख़बर सुनने पर बोलते हैं, अर्थात बेशक हम अल्लाह के वास्ते हैं और उसी की तरफ़ लौटने वाले हैं। (अनु.)

[III] कल के इंतज़ार में; इक़बाल की मशहूर नज़्म जवाब-ए-शिकवा के एक मिसरे की पैरोडी है। इक़बाल ने अपनी कविता 'शिकवा' में मुसलामानों की ख़राब हालत का शिकवा किया था कि ऐ खुदा हमारे पूर्वज मुसलामानों ने तेरे लिए कितनी कुर्बानियाँ दीं और तूने उनकी यह बुरी हालत करदी। इस कविता में खुदा इक़बाल की शिकायतों का जवाब दे रहा है:
थे तो आबा वो तुम्हारे ही, मगर तुम क्या हो // हाथ पर हाथ धरे मुन्तज़िर-ए-फ़र्दा हो

[IV] पैरोडी: बेकार मबाश कुछ किया कर, कपड़े ही उधेड़कर सिया कर ; बेकार मबाश: बेकार न रह। (अनु.)

स्वास्थ्य के पीछे हाथ धोकर पड़ा है। मैं उन्हें विश्वास दिलाता हूँ कि अगर आत्महत्या मेरी मंशा होती तो यूँ एड़ियाँ रगड़-रगड़कर नहीं जीता, बल्कि आँख बंद करके उनकी बताई हुई दवाएँ खा लेता।

आइये, एक और मेहरबान से आपको मिलाऊँ। इनकी तकनीक कुछ अलग है। मेरी सूरत देखते ही ऐसे पस्त होते हैं कि कलेजा मुँह को आता है। उनका मामूल है कि कमरे में बिना खटखटाए दाख़िल होते हैं और मेरे सलाम का जवाब दिए बिना तीमारदारों के पास पंजों के बल जाते हैं। फिर खुसर-फुसुर होती है। अलबत्ता कभी-कभी कोई उचटता हुआ जुमला मुझे भी सुनाई दे जाता है। मसलनः

"सदक़ा (दान) दीजिए। जुमेरात की रात भारी होती है।"

"पानी हलक़ से उतर जाता है?"

"आदमी पहचान लेते हैं?"

यक़ीन जानिए यह सुनकर पानी सिर से गुज़र जाता है और मैं तो रहा एक तरफ़, ख़ुद तीमारदार मेरी सूरत नहीं पहचान सकते।

कानाफूसियों के दौरान एक दो दफ़ा मैंने ख़ुद हस्तक्षेप करके पूरे होशोहवास के साथ निवेदन करना चाहा कि मैं अल्लाह की मेहरबानी से चाकचौबंद हूँ। सिर्फ़ पेचीदा दवाओं से पीड़ित हूँ। मगर वे इस समस्या को मरीज़ हस्तक्षेप योग्य नहीं समझते और अपनी तर्जनी होंठों पर रखकर मुझे ख़ामोश रहने का इशारा करते हैं। मेरे स्वास्थ्य की घोषणा और उनके पुरज़ोर खंडन से तीमारदारों को मेरे मानसिक स्वास्थ्य पर संदेह होने लगता है। यूँ भी अगर बुख़ार सौ डिग्री से अधिक हो जाए तो मैं प्रलाप बकने लगता हूँ, जिसे बेगम इक़बाल-ए-गुनाह और रिश्तेदार वसीयत समझकर डाँटते हैं और बच्चे डाँट समझकर सहम जाते हैं। मैं अभी तक तय नहीं कर सका कि यह सज्जन मिज़ाज-पुरसी करने आते हैं या पुरसा[I] देने। उनके जाने के बाद मैं वाक़ई महसूस करता हूँ कि बस अब चल-चलाव लग रहा है। साँस लेते हुए धड़का लगा रहता है कि कहावती हिचकी न आ जाए। ज़रा गर्मी लगती है तो ख़याल होता है कि शायद आख़िरी पसीना है और तबियत थोड़ी बहाल होती है तो हड़बड़ाकर उठ बैठता हूँ कि कहीं संभाला[II] न हो।

लेकिन मिर्ज़ा अब्दुल वदूद बेग का अंदाज़ सबसे निराला है। मैं नहीं कह सकता कि उनका उद्देश्य मेरी दिलजोई होता है या इसमें उनके जीवन-व-मृत्यु के दर्शन का दख़ल है। बीमारी की ख़ूबियाँ ऐसी मनभावन शैली में बयान करते हैं कि स्वस्थ होने को दिल नहीं चाहता। तंदुरुस्ती बोझ मालूम होती है और ग़ुस्ल-ए-सेहत (स्वास्थ्य-स्नान) में वो तमाम बुराइयाँ नज़र आती हैं जिनसे 'ग़ालिब' को माशूक़-मिलन की फ़िक्र में दोचार होना पड़ा

[I] पुरसा देनाः किसी की मौत पर परिवार वालों को सांत्वना देना। (अनु.)

[II] संभालाः मरीज़ की हालत में वह थोड़ी देर का सुधार जो उसके मरने से पहले होता है और जिससे स्वास्थ्य की उम्मीद हो जाती है। फिर अचानक हालत बिगड़ कर मौत हो जाती है। (अनु.)

कि गर न हो तो कहाँ जाएँ, हो तो क्योंकर हो[i]

अक्सर फ़रमाते हैं कि बीमारी जान का सदक़ा (दान) है[ii]। अर्ज़ करता हूँ कि मेरे लिए तो यह सतत दान होकर रह गई है। फ़रमाते हैं, ख़ाली बीमार पड़ जाने से काम नहीं चलता। इसलिए कि पिछड़े देशों में

फ़ैज़ान-ए-अलालत आम सही, इरफ़ान-ए-अलालत आम नहीं[iii]

एक दिन मैं कान के दर्द में तड़प रहा था कि वे आ निकले। इस अफ़रातफ़री के ज़माने में जीवित रहने के कष्टों और मृत्यु के वरदानों पर ऐसा प्राणवर्धक भाषण दिया कि बेइख़्तियार जी चाहा कि उन्हीं के चरणों में फड़फड़ाकर अपनी जान प्रदान करने वाले के सुपुर्द कर दूँ और इंश्योरेंस कंपनी वालों को रोता-धोता छोड़ जाऊँ। उनके देखे से मेरे तीमारदारों के मुँह की रही-सही रौनक़ जाती रहती है। मगर मैं सच्चे दिल से उनकी इज़्ज़त करता हूँ। क्योंकि मेरा मानना है कि सिर्फ़ जीने के लिए किसी दर्शन की ज़रुरत नहीं। लेकिन अपने दर्शन की ख़ातिर दूसरों को जान देने पर आमादा करने के लिए सलीक़ा चाहिए।

चूँकि यह अवसर निजी अनुभवों की अभिव्यक्ति का नहीं। इसलिए मैं मिर्ज़ा की अयादत के अंदाज़ की तरफ़ लौटता हूँ। वे जब स्वास्थ्य को बुराइयों की जननी और तमाम जुर्मों की जड़ क़रार देते हैं तो मुझे रह-रहकर अपनी ख़ुशनसीबी पर रश्क आता है। अपने दावे के सबूत में यह दलील ज़रूर पेश करते हैं कि जिन विकसित देशों में स्वास्थ्य की महामारी आम है वहाँ यौन अपराधों की संख्या रोज़ बरोज़ बढ़ रही है। मैं कान के दर्द से निढाल होने लगा तो उन्होंने दीनी दृष्टान्तों से मेरी ढाढ़स बँधाई:

मियाँ, हिम्मत से काम लो। बड़े-बड़े नबियों पर यह वक़्त पड़ा है।

मैं दर्द से हलकान हो चुका था। वरना हाथ जोड़कर अर्ज़ करता कि ख़ुदा मारे या छोड़े, मैं नबी का पद प्राप्त किये बिना यह यातना झेलने के लिए हरगिज़ तैयार नहीं। इसके अतिरिक्त क़िससुल-अंबिया[iv] मैंने बचपन में पढ़ी थी और यह याद नहीं आ रहा था कि कौन से नबी कान के दर्द के बावजूद पैग़म्बरी के दायित्व अंजाम देते रहे।

---

[i] हमारे ज़ेहन में उस फ़िक्र का है नाम विसाल //कि गर न हो तो कहाँ जाएँ, हो तो क्योंकर हो (मिर्ज़ा 'ग़ालिब')

[ii] बीमारी, जान की सुरक्षा के लिए दिया जाने वाला दान है। (अनु.)

[iii] फ़ैज़ान-ए-अलालत: बीमारी का वरदान ; इरफ़ान-ए-अलालत: बीमारी की गहरी समझ (अनु.)

'जिगर' मुरादाबादी के निम्नलिखित शेर की पैरोडी है:

अल्लाह अगर तौफ़ीक़ न दे इंसान के बस का काम नहीं// फ़ैज़ान-ए-मुहब्बत आम सही, इरफ़ान-ए-मुहब्बत आम नहीं

[iv] क़िससुल-अंबिया: एक पुस्तक जिसमें नबियों और पैग़म्बरों की ज़िंदगी की कथाएँ मौजूद हैं। (अनु।)

इस वाक़ये के कुछ दिन बाद मैंने मज़ाक़ में मिर्ज़ा से कहा "फ़्रैंक हैरिस के ज़माने में कोई संपन्न मर्द उस समय तक 'जेंटलमैन' होने का दावा नहीं कर सकता था जबतक कि वह कम-से-कम एक बार अकथनीय यौन-रोग से ग्रसित न हुआ हो। यह सामान्य धारणा थी कि इससे चरित्र में लोच और रचाव पैदा होता है।"

तम्बाकू के पान का पहला घूँट पीकर कहने लगे "ख़ैर! यह तो एक नैतिक दुर्बलता की दार्शनिक दलील है। मगर इसमें शक नहीं कि दर्द चरित्र को निखारता है।"

वे ठहरे एक झक्की। इसलिए मैंने फ़ौरन यह स्वीकार करके अपना पिंड छुड़ाया कि "मैं इस सिद्धांत से सहमत हूँ। बशर्तेकि दर्द शदीद हो और किसी दूसरे के उठ रहा हो।"

पिछले जाड़ों का ज़िक्र है। मैं गर्म पानी की बोतल से सेंक कर रहा था कि एक सज्जन जो अस्सी साल के पेटे में हैं, ख़ैरियत पूछने आये और देर तक क़ब्र और परलोक की बातें करते रहे जो मेरे तीमारदारों को थोड़ी असामयिक मालूम हुईं। आते ही बहुत सी दुआएँ दीं, जिनका खुलासा यह था कि खुदा मुझे हज़ारी उम्र दे ताकि मैं अपने और उनके फ़र्ज़ी दुश्मनों की छाती पर कहावती मूँग दलने के लिए ज़िन्दा रहूँ। उसके बाद जान निकलने और क़ब्र के सिकुड़ने[i] का इस क़दर तफ़सीली हाल बयान किया कि मुझे अपनी कुटिया क़ब्रिस्तान नज़र आने लगी। अयादत में इबादत का सवाब (पुण्य) लूट चुके तो मेरी जलती हुई पेशानी पर अपना हाथ रखा जिसमें स्नेह कम और कंपकंपी ज़्यादा थी और अपने बड़े भाई को (जिनका देहांत तीन महीने पहले उसी मर्ज़ में हुआ था जिससे मैं पीड़ित था) याद करके कुछ इस तरह आँसू छलकाए कि मेरी भी हिचकी बंध गई। मेरे लिए जो तीन सेब लाये थे वो खा चुकने के बाद जब उन्हें क़रार आया तो वह मशहूर मातम-पुरसी वाला शेर पढ़ा जिसमें उन ग़ुन्चों (कलियों) पर हसरत का इज़हार किया गया है जो बिन खिले मुरझा गए[ii]।

मैं स्वभावतः बड़ा नर्म-दिल हूँ और तबियत में ऐसी बातों की सहार बिल्कुल नहीं है। उनके जाने के बाद "*जब लाद चलेगा बंजारा*" वाला मूड तारी हो जाता है और हालत यह होती है कि हर परछाईं भूत और हर सफ़ेद चीज़ फ़रिश्ता दिखाई देती है। ज़रा आँख लगती है तो ऊटपटांग सपने देखने लगता हूँ। मानो कोई "कॉमिक" या सचित्र मनोवैज्ञानिक कहानी सामने खुली हुई है:

क्या देखता हूँ कि डॉक्टर मेरी लाश पर इंजेक्शन की पिचकारियों से लड़ रहे हैं और लहूलुहान हो रहे हैं। उधर कुछ मरीज़ अपनी-अपनी नर्स को क्लोरोफ़ॉर्म सुंघा रहे हैं। थोड़ी दूर पर एक लाइलाज मरीज़ अपने डॉक्टर को सूरा-ए-यासीन[iii] रटवा रहा है। हर तरफ़ साबूदाने और मूँग की दाल की खिचड़ी के ढेर लगे हैं। आसमान बैंगनी हो रहा है और उन्नाब[iv]के वृक्षों की छाँव में, सना[v]की झाड़ियों की ओट लेकर बहुत से ग़िलमान[vi]

---

[i] गुनाहगारों की सज़ा के लिए क़ब्र दोनों तरफ़ सिकुड़कर उनको बुरी तरह से और बार-बार भेंचेगी। (अनु.)

[ii] फूल तो दो दिन बहार-ए-जाँ-फ़ज़ा दिखला गए // हसरत उन ग़ुन्चों पे है जो बिन खिले मुरझा गए (इब्राहीम 'जौक़')

[iii] सूरा-ए-यासीनः क़ुरान की वह आयत जो किसी की मौत के वक़्त या ख़तरे की घड़ी में पढ़ते हैं। (अनु.)

[iv] उन्नाबः बेर की जाति का एक सूखा फल जो यूनानी और आयुर्वेदिक दवाओं में इस्तेमाल होता है। (अनु.)

[v] सनाः एक घास जो दस्त लाने के लिए इस्तेमाल होती है; एक लकड़ी जो दातून के तौर पर इस्तेमाल होती है। (अनु.)

[vi] ग़िलमानः जन्नत में सुन्दर कमसिन लड़के जो जन्नतियों की सेवा के लिए हैं। (अनु.)

एक मौलवी को भोजन के तौर पर बलात् माजूनें (भस्म) खिला रहे हैं। जहाँ तक नज़र जाती है काफ़ूर में बसे हुए कफ़न हवा में लहरा रहे हैं। जगह-जगह पर लोबान सुलग रहा है और मेरा सिर क़ब्र पर लगे संगमरमर के शिलालेख के नीचे दबा हुआ है और उसकी ठंडक नस-नस में घुसी जा रही है। मेरे मुँह में सिग्रेट और डॉक्टर के मुँह में थर्मामीटर है। आँख खुलती है तो क्या देखता हूँ कि सिर पर बर्फ़ की थैली रखी है। मेरे मुँह में थर्मामीटर ठुंसा हुआ है और डॉक्टर के होंठों में सिग्रेट दबा है।

लगे हाथों, अयादत करने वालों के एक और प्रकार का परिचय परा दूँ। ये हज़रात आधुनिक चिकित्सा पद्धति का प्रयोग करते हैं और मनोविज्ञान का हर सिद्धांत दाँव पर लगा देते हैं। हर पाँच मिनट बाद पूछते हैं कि आराम हुआ या नहीं? मानो मरीज़ से यह उम्मीद रखते हैं कि मरणासन्न अवस्था में भी उनके सामान्य ज्ञान में वृद्धि करने के प्रयोजन से RUNNING COMMENTARY करता रहेगा। उनकी यह कोशिश होती है कि किसी तरह मरीज़ पर साबित कर दें कि वह केवल प्रतिशोध की भावना से बीमार है या वहम का शिकार है और किसी संगीन ग़लतफ़हमी की वजह से अस्पताल पहुँचा दिया गया है। उनकी मिसाल उस ग़ैर-रोज़ेदार के जैसी है जो बेहद सच्चे मन से किसी रोज़ेदार का रोज़ा चुटकुलों से बहलाना चाहता हो। संवाद का नमूना पेश है:

मुलाक़ातीः माशा अल्लाह! आज मुँह पर बड़ी रौनक़ है।

मरीज़ः जी हाँ! आज शेव नहीं किया है।

मुलाक़ातीः आवाज़ में भी करारपान है।

मरीज़ की बीवीः डॉक्टर ने आज सुबह से साबूदाना भी बंद कर दिया है।

मुलाक़ातीः (अपनी बीवी से मुख़ातिब होकर) बेगमा! ये ठीक हो जाएँ तो ज़रा इन्हें मेरी पथरी दिखाना जो तुमने चार साल से स्प्रिट में रख छोड़ी है। (मरीज़ को संबोधित करके) साहब! यूँ तो हर मरीज़ को अपनी आँख का तिनका भी शहतीर मालूम होता है, मगर यक़ीन जानिए, आपका चीरा तो बस दो-तीन अंगुल लंबा होगा। मेरा तो पूरा एक बित्ता है। बिल्कुल कनखजूरा मालूम होता है।

मरीज़ः (कराहते हुए) मगर मुझे टाइफ़ाइड हुआ है।

मुलाक़ातीः (एकाएकी पैंतरा बदलकर) यह सब आपका वहम है। आपको सिर्फ़ मलेरिया है।

मरीज़ः यह पास वाली चारपाई जो अब ख़ाली पड़ी है, इसका मरीज़ भी इसी वहम का शिकार था।

मुलाक़ातीः अरे साहब! मानिए तो! आप बिल्कुल ठीक हैं। उठकर मुँह हाथ धोइए।

मरीज़ की बीवीः (डबडबाई आँखों से) दो दफ़ा धो चुके हैं। सूरत ही ऐसी है।

इस समय एक पुराने शुभचिंतक याद आ रहे हैं जिन की अयादत का अंदाज़ ही और है। ऐसा हुलिया बनाकर आते हैं कि ख़ुद उनकी अयादत आवश्यक हो जाती है। "मिज़ाज शरीफ़!" को वे औपचारिक जुमला नहीं, बल्कि सालाना इम्तिहान का सवाल समझते हैं और सचमुच अपनी तबीयत की सारी तफ़सीलात बताना शुरू कर देते हैं। एक दिन मुँह का मज़ा बदलने के लिए "मिज़ाज शरीफ़!" के बजाय "सब कुशल-मंगल है?" से हाल पूछ लिया। पलटकर बोले "इस पापी संसार में कुशल-मंगल कहाँ?" इस अतिप्राकृतिक भूमिका के बाद

कराची के मौसम की ख़राबी का ज़िक्र आँखों में आँसू भरकर ऐसे अंदाज़ से किया मानो उनपर सरासर व्यक्तिगत अत्याचार हो रहा है, और इसके लिए सारा-का-सारा म्युनिसिपल कारपोरेशन ज़िम्मेदार है।

आपने देखा होगा कि कुछ औरतें शायर की नसीहत के मुताबिक़ समय को 'आज' और 'कल' के पैमाने[1] से नहीं नापतीं, बल्कि तारीख़, सन और घटनाओं के क्रम का हिसाब अपने यादगार प्रसवों से लगाती हैं। उपर्युक्त दोस्त भी अपनी बीमारियों से कैलेंडर का काम लेते हैं। मसलन राजकुमारी मारग्रेट की उम्र वे अपने दमे के बराबर बताते हैं। सुएज़ से अंग्रेज़ों के नहर-बदर किए जाने की तारीख़ वही है जो इनके पित्ता निकाले जाने की। मेरा नियम है कि जब वे अपनी और सारे सम्बन्धियों की विपत्तियों का विस्तारपूर्वक वर्णन करके उठने लगते हैं तो उनकी जानकारी के लिए अपनी ख़ैरियत से सूचित कर देता हूँ।

बीमार पड़ने के सैंकड़ों नुक़सान हैं। मगर एक लाभ भी है। वह यह कि इस बहाने अपने बारे में दूसरों की राय मालूम हो जाती है। बहुत सी कड़वी-कसैली बातें जो आम तौर से होंठों पर काँपकार रह जाती हैं, बेशुमार दिल दुखाने वाले जुमले जो "जनता-जनार्दन के ग़ुस्से के डर" से हलक़ में अटककर रह जाते हैं, इस ज़माने में यार लोग नसीहत की आड़ में "हुवश्शाफ़ी"[2] कहकर बड़ी बेतकल्लुफ़ी से दाग़ देते हैं। पिछले शनिवार की बात है। मेरी अक़ल दाढ़ में तेज़ दर्द था कि एक रूठे हुए रिश्तेदार जिनके मकान पर हाल ही में क़र्ज़ के रूपये से छत पड़ी थी, लक्का कबूतर की तरह सीना ताने आए और फ़रमाने लगेः

"हैं आप भी ज़िद्दी आदमी! लाख समझाया कि अपना निजी मकान बनवा लीजिए, मगर आपके कान पर जूँ नहीं रेंगती।

ताने की काट दर्द की तीव्रता पर भारी पड़ी और मैंने डरते-डरते पूछा, "भाई! मेरी बुद्धि तो इस समय काम नहीं करती। ख़ुदा के लिए आप ही बताइए, क्या यह कष्ट केवल किरायदारों को होता है?"

हँसकर फ़रमाया "भला यह भी कोई पूछने की बात है। किराए के मकान में तंदुरुस्ती कैसे ठीक रह सकती है।"

कुछ दिन बाद जब इन्ही हज़रत ने मेरे घुटने के दर्द को बे-दूध की चाय पीने और रमी खेलने का घपला क़रार दिया तो बेइख़्तियार उनका सिर पीटने को जी चाहा।

अब कुछ जग-बीती भी सुन लीजिए। झूठ-सच का हाल ख़ुदा जाने। लेकिन एक दोस्त अपना तजुर्बा बयान करते हैं कि दो महीने पहले उनके गले में ख़राश हो गई, जो उनके विचार से बदमज़ा खाना खाने और घर वालों के विचार से सिग्रेट की ज़्यादती का नतीजा थी। शरू में तो उन्हें अपनी बैठी हुई आवाज़ बहुत भली

---

[1] अल्लामा 'इक़बाल' के निम्नलिखित शेरों की ओर संकेतः

बरतर अज़ अंदेशा-ए-सूद-व ज़ेयाँ है ज़िन्दगी // है कभी जाँ और कभी तस्लीम-ए-जाँ है ज़िन्दगी

तू इसे पैमाना-ए-इमरोज़-व- फ़र्दा से नाप // जावेदाँ, पैहम दवाँ, हरदम जवाँ है ज़िंदगी

जीवन लाभ-हानि की चिंता से ऊपर है। कभी जीवन भरपूर तौर पर जीना है, कभी पूर्ण समर्पण जीवन है।

तू इसे 'आज' और 'कल' के पैमानों से न नाप। जीवन नित्य है, सतत गतिमान है, हर क्षण जवान है (अनु.)

[2] हुवश्शाफ़ीः वही (अल्लाह) रोगों से मुक्त करने वाला है। इसे अपने हकीम नुस्ख़े के माथे पर लिखते हैं। (अनु.)

मालूम हुई और क्यों न होती? सुनते चले आये हैं कि बैठी हुई (HUSKY) आवाज़ में ज़बरदस्त यौन-आकर्षण होता है। ख़ुदा की देन थी कि घर बैठे आवाज़ बैठ गई। वर्ना अमरीका में तो लोग कोका-कोला की तरह डॉलर बहाते हैं जब कहीं आवाज़ में यह स्थाई ज़ुकाम जैसी विशेषता पैदा होती है। लिहाज़ा जब थोड़ा आराम हुआ तो उन्होंने रातों को गिड़गिड़ा-गिड़गिड़ाकर, बल्कि खनखना-खनखनाकर दुआएँ माँगीं:

"ऐ मेरे अल्लाह, तेरी बख़्शिश की शान के क़ुर्बान! यह जलन भले ही कम हो जाए, लेकिन भर्राहट यूँ ही क़ायम रहे!"

लेकिन चंद दिन के बाद जब उनका गला ख़ाली नल की तरह भक-भक करने लगा तो उन्हें भी चिंता हुई। किसी ने कहा "हकीम लुक़मान का कथन है कि पानी पीते समय एक हाथ से नाक बंद कर लेने से गला कभी ख़राब नहीं होता।"

एक सज्जन ने फ़रमाया "सारा फ़ितूर फल न खाने के सबब है। मैं तो रोज़ाना बासी मुँह पंद्रह फ़िट गन्ना खाता हूँ। पेट और दाँत दोनों साफ़ रहते हैं।" और सबूत में उन्होंने अपने नक़ली दाँत दिखाए जो वाक़ई बहुत साफ़ थे।

एक और शुभचिन्तक ने इत्तेला दी कि ज़ुकाम एक ज़हरीले वायरस (VIRUS) से होता है जो किसी दवा से नहीं मरता। लिहाज़ा जोशान्दा पीजिये क्योंकि इंसान के अलावा कोई जानदार इसका स्वाद चखकर ज़िन्दा नहीं रह सकता।

बाक़ी रूदाद उन्हीं की ज़बान से सुनिए:

'और जिन शुभचिंतकों ने विनम्रतावश दवाएँ नहीं सुझाईं, वे हकीमों और डॉक्टरों के नाम और पते बताकर अपने दायित्व से मुक्त हो गये। किसी ने आग्रह किया कि 'आयुर्वेदिक इलाज कराओ।' बड़ी मुश्किल से उन्हें समझाया कि मैं प्राकृतिक मौत मरना चाहता हूँ। किसी ने मशवरा दिया 'हकीम नब्बाज़-ए-मिल्लत[1] से संपर्क कीजिए। नब्ज़ पर ऊँगली रखते ही मरीज़ की वंशावली बता देते हैं (इसी वजह से कराची में उनकी हकीमी ठप्प है) क़ारूरे (मूत्र) पर नज़र डालते ही मरीज़ की आमदनी का अंदाज़ा कर लेते हैं।' आवाज़ अगर साथ देती तो मैं ज़रूर अर्ज़ करता कि ऐसे काम के आदमी को तो इनकम टैक्स के मुहकमें में होना चाहिए।

संक्षेप में जितने मुँह उनसे कहीं ज़्यादा बातें! और तो और सामने के फ़्लैट में रहने वाली स्टेनोग्राफ़र (जो चुस्त स्वेटर और जीन्ज़ पहनकर, बक़ौल मिर्ज़ा अब्दुल वदूद बेग, अंग्रेज़ी का S मालूम होती है) भी मिज़ाज-पुरसी को आई और कहने लगी 'हकीमों के चक्कर में न पड़िए। आँख बंद करके डॉक्टर दिलावर के पास जाइए। तीन महीन हुए, आवाज़ बनाने की ख़ातिर मैंने इमली खा-खाकर गले का नास मार लिया था। मेरी ख़ुशनसीबी कहिए कि एक सहेली ने उनका पता बता दिया। अब बहुत आराम है।'

उसके बयान का समर्थन कुछ दिन बाद मिर्ज़ा अब्दुल वदूद बेग ने भी किया। उन्होंने पुष्टि की कि डॉक्टर साहब अमरीकी पद्धति से इलाज करते हैं और हर केस को बड़े ध्यान से देखते हैं। चुनांचे सैंडल के

---

[1] हकीम नब्बाज़-ए-मिल्लत: मुस्लिम क़ौम की नब्ज़ पहचाने वाले हकीम। (अनु.)

अलावा हर चीज़ उतरवाकर उन्होंने स्टेनोग्राफ़र के हलक़ का बग़ौर मुआयना किया। इलाज से वाक़ई काफ़ी आराम हुआ और वह इस सिलसिले में अभी तक पीठ पर पराबैंगनी किरणों से सेंक कराने जाती है।"

मुझे विश्वास है कि इस इलाज के तरीक़े से डॉक्टर महोदय को काफ़ी आराम हुआ होगा!

(चिराग़ तले)

अनुवादक : डॉ. आफ़ताब अहमद
व्याख्याता, हिंदी-उर्दू, कोलंबिया विश्वविद्यालय, न्यूयॉर्क